अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

हे वृन्दावन नाथ! हाथ अब सिर पर दीजे।
कभी न छूटे साथ, दास अपना कर लीजे।
हे आनन्दमुकुन्द! नवल नटवर गिरिधारी।
प्यारे मोहन! मीत! साँवरे! सब सुखकारी।
आओ प्रियतम, सामने, करलो नयन निवास।
हृदय वास भी तोड़ता जीवन आशा श्वास।

आनन्द प्रस्तुति ऑडियो विजुअल सेंटर
वृन्दावन

स्वर्णिम पाटोत्सव

ठा. श्रीनृत्यगोपाल जी महाराज

प्यारे कृष्ण

अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

स्वर्णिम पाटोत्सव
ठा. श्रीनृत्यगोपाल जी महाराज

(16 अप्रैल से 18 अप्रैल – 2018)

प्यारे कृष्ण !

अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

सप्रेम भेंट
स्वामी श्रीमहेशानन्द सरस्वतीजी महाराज

ठा. श्रीनृत्यगोपाल जी महाराज के
स्वर्णिम पाटोत्सव के पावन अवसर पर

त्वदीय वस्तु गोविन्द !
तुभ्यमेव समर्पयेत् ।

प्रकाशक :
आनन्द प्रस्तुति ऑडियो विजुअल सेंटर
आनन्द वृन्दावन, मोतीझील, वृन्दावन–281121
जि० – मथुरा (उ०प्र०)

मुद्रण–संयोजन
श्रीहरिनाम प्रेस, लोई बाजार, वृन्दावन–281121
दूरध्वनि : 7500987654

मङ्गलाचरण

सद्भिः कृष्णानुरक्तैरतिरसजननीं प्राप्य गोपालदीक्षां
वीक्षाञ्चक्रे तदीयां निजनयनमनोमोहनीमात्ममूर्तिम्।
शिष्टैरिष्टैर्विशिष्टैरविषयविषयां शांकरीं ब्रह्मविद्यां
लब्ध्वात्मन्यात्मतुष्टोऽनुभवति परमं तत्त्वमात्मस्वरूपम्॥

'कृष्णानुरागी सन्तों से भगवद्भक्तिरसजननी गोपालमन्त्र-दीक्षा प्राप्त करके उनकी निजनयनमनोमोहनी आत्ममूर्ति का दर्शन प्राप्त किया। विशिष्ट शिष्टों की सेवा करके उनसे निर्विषय-तत्त्वविषयक शांकर-सम्प्रदायानुमोदित ब्रह्मविद्या प्राप्त की; और अब अपने आप में आत्म-सन्तुष्ट रहकर आत्मस्वरूप परमतत्त्व का अनुभव किया जा रहा है।'

('महाराजश्री' द्वारा रचित 'आत्मोल्लास' में से)

●●●

ठा. 'श्रीनृत्यगोपालजी'
एवं
श्री 'महाराजश्री'

ठाकुर श्रीनृत्यगोपाल जी महाराज का 'स्वर्ण-जयन्ती महोत्सव' अर्थात् 50 वाँ पाटोत्सव समारोह!

आज से पचास वर्ष पूर्व 30 अप्रैल सन् 1968, मंगलवार तदनुसार विक्रम सम्वत् 2025 अक्षय-तृतीया का पावन दिवस, श्रीवृन्दावन धाम, 'आनन्द वृन्दावन' आश्रम में परमपूज्य सद्गुरुदेव अनन्त श्रीविभूषित स्वामी श्रीअखण्डानन्द सरस्वती जी 'महाराजश्री' के करकमलों द्वारा ठा. श्रीनृत्यगोपाल जी की विधिवत् स्थापना हुई। आइये, श्रीवृन्दावन के अन्य प्राचीन मन्दिरों के ठाकुरों के श्रीकृष्ण विग्रह से कुछ विलक्षण गौरवर्ण श्रीनृत्यगोपाल जी की मन-मोहक अनूठी-छवि की परिकल्पना कैसे साक्षात् हुई एवं पूज्य महाराजश्री के साथ उनके सम्बन्ध के बारे में कुछ चर्चा कर लें।

सर्वप्रथम, महाराजश्री को हुए भगवद्दर्शन के बारे में अपने कथा-प्रवचनों में स्वयं उन्होंने वर्णन किया है कि, "हमारे गाँव 'महराई' से चार-पाँच मील दूर गंगा तट पर परमहंस रामकृष्ण के प्रशिष्य स्वामी श्रीयोगानन्द जी महाराज निवास करते थे। मैं प्राय: उनका दर्शन करने जाया करता था। एक दिन मैंने उनसे दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की। उन्होंने मुझे वेदान्त के श्रवण-मनन की प्रेरणा दी। इस पर मैंने गोस्वामी जी की एक चौपाई उन्हें सुनायी—

'भरी लोचन बिलोकि अबधेसा।
तब सुनिहउँ निरगुन उपदेसा।।'

वे बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने सबसे पहले गायत्री पुरश्चरण करवाया, फिर शुभ मुहूर्त्त में वेधमयी दीक्षा की रीति से गोपीजन वल्लभ मन्त्र का उपदेश दिया। उपदेश के अन्त में मेरे सिर पर हाथ रखकर उन्होंने स्वयं अष्टोत्तरशत मन्त्र का जप किया और कहा, 'अब तुम संसार बंधन से मुक्त हो; केवल भजनानन्द के लिए जप किया करो'। उस दिन से मैं अत्यधिक लगनपूर्वक इष्ट-दर्शन की उत्कट लालसा से जप करने लगा। काफी समय बीत गया, परन्तु प्रत्यक्ष दर्शन की बात तो दूर, स्वप्न में भी कोई अनुभूति नहीं हुई। इस बात की मनमें व्याकुलता तो थी, फिर भी जप में तन-मन से लगा ही रहा। अब, एक दिन क्या हुआ कि गंगा-स्नान करते समय माला कौआ उठाकर ले गया। अब तो व्याकुलता और बढ़ी, अपनी विफलता पर आत्मग्लानि की ज्वाला में जलने लगा और घर पहुँचकर कमरा बन्दकर खूब रोया और सोचने लगा कि 'हाय-हाय! इस शरीर से भगवान् का दर्शन न हुआ और अब न होगा! यह शरीर व्यर्थ है।' उसी समय वह बन्द कमरा जो अंधकारमय था, प्रकाश से भर गया। मैंने आँख मलकर देख लिया कि मैं जाग रहा हूँ और अपने पलंग पर बैठा हूँ। उसी समय धरती से कुछ ऊपर एक दिव्य किशोर प्रकट हुआ। उसके मुख पर मुस्कान थी, नेत्रों में प्रेम, अधरों पर बाँसुरी। शरीर पर कोई वस्त्र नहीं था। वस्त्र और आभूषणों के स्थान पर पुष्प मालाएँ थीं। मुकुट भी पुष्पों का ही था और नूपुर भी पुष्पों के। पुष्पों का श्रृंगार इस ढंग से किया गया था कि जैसे कन्धे पर पीताम्बर हो और कटि-भाग में कछौटी (एक प्रकार का जाँघिया)। वह किशोर कभी बायें, कभी दायें और कभी सम्मुख आकर खड़ा होता तथा मुस्कराकर देखता था।

मैंने साष्टांग प्रणाम करने का प्रयत्न किया तो शरीर टस-से-मस न हुआ, सिर नहीं झुका, हाथ नहीं जुड़े, वाणी बन्द हो गयी। मैं देख

रहा था और वह मुस्करा रहा था। अन्त में उस दिव्य किशोर ने कहा कि, 'सब मैं ही मैं हूँ। यह जो जगत् दीखता है सो भी मैं हूँ। मैं और तुम दो नहीं, एक हैं। मैं तुम और तुम मैं। हमारा कभी वियोग नहीं है, संयोग भी नहीं है, सदा एकरस मिलन है।' वह किशोर अन्तर्धान हो गया और उसके साथ ही वह दिव्य प्रकाश भी लुप्त हो गया। उसके बाद मैं ऐसे परमानन्द में मग्न हो गया और मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मेरे रोम-रोम से आनन्द की धारा प्रवाहित हो रही है। कमरे से बाहर आने पर मैंने अपनी माताजी को बताया कि मुझे भगवान् के दर्शन हुए।"

जी हाँ, श्रीमहाराजश्री के हृदय में विराजमान, जो गौर-वर्ण, नटवर वपु मुरली मनोहर, त्रिभंग ललित रूप श्रीकृष्णचन्द्र, नित्य-निरन्तर नृत्य करते थे, वे ही श्रीनृत्यगोपाल के रूप में बाहर अभिव्यक्त होकर नृत्य करते हुए सबको प्रत्यक्ष दर्शन दे रहे हैं।

कभी-कभी महाराजश्री एक वैदिक मंत्र की व्याख्या श्यामसुन्दर के नृत्यपरक अर्थ में करते थे। यथा—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्ति के।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।।

(ईशावास्यो०-5)

अर्थात्- तत् ब्रह्म कृष्णः, एजति=नाचता है। तन्नैजति=नृत्य करते-करते स्थिर हो जाता है। तत् ब्रह्म=श्रीकृष्णः, दूर चला जाता है। तत्=ब्रह्म, उ=आश्चर्य है कि, अन्तिके=नाचते-नाचते समीप में आ जाता है। तत्=ब्रह्म सर्वस्य=सबके, अन्तरस्य=भीतर हृद में, एजति=नाचता है। उ=आश्चर्य है कि तत्=ब्रह्म, अस्य=लोकस्य=सम्पूर्ण लोक के भीतर नाचता हुआ भी बाह्यतः=बाहर भी एजति=नाचता है।

नारायण, वही नृत्यगोपाल महाराजश्री के द्वारा विनिर्मित बाह्य मन्दिर में प्रकट होकर संसारासक्त अनेक जीवों की आत्मा को अपनी ओर आकृष्ट करके अविनाशी अपने नित्यधाम में लेकर जन्म-मृत्यु रूप दु:खमय संसार से मुक्त करने के लिए त्रिभंग-ललित भाव से नृत्य करते हुए अनन्त रूपों में विराजमान हैं। उनकी अनूठी छवि, मंद-मंद मुस्कान बरबस सबका हृदय चुरा लेती है। आज भी अनेक भक्तजनों के जीवन में प्रत्यक्ष ठाकुर श्रीनृत्यगोपाल जी के चमत्कार होते रहते हैं।

महाराजश्री के परमाराध्य ठा. श्रीनृत्यगोपाल जी की
जय हो! जय हो!!

नृत्यगोपाला आनन्दकन्द,
सद्गुरु स्वामी अखण्डानन्द।

प्रेम-प्रेम क्यों बकत नेम बिन प्रेम कहाँ है?
नेम क्षेम को हेतु, काम को नाश तहाँ है।
अपनी हटको तजो, भजो वृन्दावन-मोहन।
सजो शुद्ध श्रृंगार, करो अन्तरतम सोहन।
अन्तस्तलकी भावना, शुद्धि सु उसे पसन्द है।
इसी वस्तु से रीझता श्रीवृन्दावनचन्द है।

प्यारे कृष्ण!

श्रीकृष्ण! मुझे मालूम नहीं, कुछ-कुछ मालूम होने पर भी याद नहीं आता कि मैं तुमसे कब से बिछुड़ा हुआ हूँ! युग-पर-युग बीत गये, जन्म-पर-जन्म बीत गये। कभी तिनका होकर लोगों के पैरों के नीचे कुचला जाता रहा, कभी लकड़ी बनकर आग में जलता रहा, कभी कीड़े-मकोड़े बनकर लोगों को सताता रहा, कभी समुद्र की उत्ताल तरंगों में बहता रहा और कभी अनेकों पशु-पक्षियों की योनियों में पैदा होकर लोगों के द्वारा विताड़ित होता रहा, न जाने किस-किस को पुकारा, किसके-किसके चरणों की शरण ली, परन्तु तुम्हें नहीं पुकारा। कई बार स्त्री होकर लोगों का भोग्य बना और न जाने कितनी बार पुरुष होकर कितनों की चापलूसी करता रहा। श्रीकृष्ण! एक बार भी सच्चे हृदय से मैंने तुम्हारे चरणों की शरण नहीं ली। एक बार भी आर्तस्वर से तुम्हें नहीं पुकारा! पुकारने की इच्छा भी नहीं हुई! मैं जलते हुए लोहे के द्रव को अमृत समझकर पीने के लिये दौड़ा, उससे जलकर जलते हुए सोने के द्रव की ओर दौड़ा, उससे लौटकर खारे समुद्र में कूद पड़ा और वहाँ भी भूखा-प्यासा रहकर अनेक जल-जन्तुओं से विताड़ित हुआ। कहाँ नहीं गया, किसके दरवाजे पर मैंने सिर नहीं पटका? परन्तु हाय री मेरी दुर्बुद्धि! एकबार भी तुमने सच्चे स्वामी की स्मृति नहीं की!!

यह सब होता रहा, इस सब दौड़-धूप के अंदर एक प्रेरणा थी श्रीकृष्ण की। हां! श्रीकृष्ण!! तुम्हारी ही प्रेरणा थी। तुम हृदय में बैठकर यही प्रेरणा कर रहे थे कि मैं सच्चा सुख पाऊँ, सच्ची शान्ति पाऊँ और अपने स्वामी की सन्निधि में जाकर अपने प्रियतम का आलिंगन पाकर सर्वदा के लिये उनके हृदय से सट जाऊँ-एक हो

जाऊँ। यह इच्छा तुम्हारी दी हुई इच्छा थी। परन्तु मैं इतना पागल था कि यह नहीं समझ रहा था यह इच्छा किसकी दी हुई है। यह भी नहीं समझ रहा था कि किसके पास जाने से यह इच्छा पूरी होती है! मैं बिना जाने अनजान पथ से चल पड़ा और ढूँढ़ने लगा उन विषयों में सुख और शान्ति को, जहाँ स्वप्न में भी उनके दर्शन नहीं हो सकते!

परन्तु अब मैं समझ गया। यह कैसे कहूँ कि मैं समझ गया? तुम्हारे प्रेमियों से सुनता हूँ, तुम्हारे प्रेमियों ने जो कुछ तुम्हारा संदेश सुनाया है, उससे अनुमान करता हूँ कि मेरी इच्छा, अनन्त आनन्द और सुखकी अभिलाषा सच्ची थी। फिर भी मेरा मार्ग ठीक न था। मैं मरुस्थल में पानी ढूँढ़ रहा था। मैं संसार में सुख के लिये भटक रहा था। भला संसार में सुख कहाँ! भटक चुका, खूब भटक चुका, जान गया कि सुख तो तुम्हारे चरणों में ही है। अब प्रभो! तुम्हारे चरणों में आ गया हूँ, ये तुम्हारे लाल तलुवे, ये तुम्हारे कमल से कोमल चरण सर्वदा मेरे हृदय से सटे रहें, इनकी शीतलता से मेरे हृदय की धधकती हुई आग शान्त हो जाय। प्रियतम! एक बार मेरे वक्षःस्थल पर अपने चरणों को रख दो न! रख दो, बस मेरी एक बात मान लो!

मैं भी कैसा अज्ञानी हूँ! हृदय की तहमें तो अब भी विषयों की लालसा है और वाणी से तुम्हारी प्रार्थना कर रहा हूँ। इसी से मालूम होता है श्रीकृष्ण! कि तुम दूर से ही मुझे देखकर हँस रहे हो और मेरे पास नहीं आ रहे हो। मैंने तुम्हारे प्रेमियों के द्वारा, तुम्हारे दूतों के द्वारा सुने हुए सन्देश को सच्चे रूप में अभी ग्रहण नहीं किया है। थोड़ी देर के लिए उन सन्देशों को सुन लेने पर भी मनने उन्हें ठीक रूप से ग्रहण नहीं किया है। यदि मन तुम्हारे सन्देश को सत्य मानता, उसका विश्वास हो जाता कि सच्चा रस तो श्रीकृष्ण के स्मरण में ही है। यदि वह अनुभव कर लेता कि विषयों में रस नहीं है, तो फिर वह कभी स्वप्न में भी विषयों की ओर नहीं जाता, तुम्हारे चरणों का रस लेने में ही मत्त

होता। ऐसा नहीं होता, जैसा कि मनकी आज स्थिति है। श्रीकृष्ण! परन्तु मैं करूँ ही क्या? मनको मनाना मेरे हाथ में तो है नहीं, वह बड़ा बलवान् है, अपने हठपर उठा हुआ है। काम, क्रोध, लोभ आदि से उसने दोस्ती कर रखी है, वह तुम्हारा सन्देश सुनकर भी अनसुना कर देता है। सब कुछ देखते-सुनते हुए भी उसी मार्ग से चलने लगता है, जिससे चलने का उसे अभ्यास हो गया है।

इसका एक उपाय है, तुम सन्देश मत भेजो। आओ, स्वयं आओ, मेरी बात तो सुन ही रहे हो न! एक क्षण के लिये मेरी आँखों के सामने प्रकट हो जाओ। थोड़ी देर के लिये मेरे हृदय में आकर बैठ जाओ और सन्देश के स्थान पर अपने मुँह से तुम मनको आदेश दे दो कि मन, तुम मेरे हो, मेरी सेवा में रहो, एक क्षण भी मुझे छोड़कर मत जाया करो। मेरे सर्वस्व, मेरे श्रीकृष्ण! वह तुम्हारी आज्ञा मानेगा। मेरा विश्वास है, तुम्हारी आज्ञा अवश्य मानेगा। कर दो न ऐसा ही! मैं सर्वदा के लिये तुम्हारे चरणों की सन्निधि पा जाऊँ। श्रीकृष्ण क्या कहते हो? मेरा हृदय कलुषित है। वह तुम्हारे आने योग्य नहीं है। मेरी आँखें दूषित हैं। वे तुम्हारा दर्शन करने योग्य नहीं हुई हैं, परन्तु मेरा वश क्या है? मेरी आँखों और हृदय को शुद्ध करने वाला और है ही कौन? तुम स्वयं पवित्र कर लो और आ जाओ। यदि उनके शुद्ध होने पर ही तुम आओगे, तब तो मैं करोड़ों कल्प में भी तुम्हारे दर्शनों का अधिकारी नहीं बन सकूँगा। श्रीकृष्ण तुम बड़े दयालु हो, बड़े भक्तवत्सल हो। तुमने स्वयं स्वीकार किया है कि मैं प्रेमपरवश हूँ। परन्तु मैं भूल कर रहा था, मैं भक्त नहीं हूँ, मैं तुमसे प्रेम भी नहीं करता। मैं सच्चे हृदय से अपने को दयापात्र भी नहीं मानता। कहाँ है मुझमें दीनता? मैं तो अभिमान का पुतला हूँ। तब क्या मुझपर दया नहीं करोगे! श्रीकृष्ण इसी अवस्था में तो मैं वास्तव में दया का पात्र हूँ। यदि मैं अपने को दयापात्र समझता, तब तो दयापात्र होता ही। उसमें तुम्हारी दयालुता क्या होती! मेरी दशा तो इतनी दयनीय हो गयी है कि मैं अपने को

दयापात्र भी नहीं समझता, इसलिये मैं और भी दया का पात्र हो गया हूँ। जैसे भयंकर रोग से ग्रस्त प्राणी उन्माद के कारण अपने रोग को नहीं समझ पाता और इसी से लोग उसपर विशेष दया करते हैं, वैसे ही अज्ञानवश अपने रोग को न समझने वाला मैं क्या तुम्हारा विशेष दयापात्र नहीं ?

मैंने तुम्हारी लीला सुनी है, मैंने तुम्हारी कथा सुनी है। तुम पतितों को पतितपावन बना देते हो, अधमों को अधमों के उद्धार का साधन बना देते हो। तुम प्रेमियों के नचाने पर नाचते हो और वे जो-जो कहते हैं, करते हो। मैं तुम्हारे दरवाजे पर तुम्हारे चरणों के पास लोटकर तुमसे प्रार्थना कर रहा हूँ। उठा लो मुझे, एक बार कह दो, तुम मेरे हो। अपना लो न प्रभु! सब संसार तो तुम्हारा है ही। तो क्या मुझे ही बाहर रखना चाहते हो ? मैं भी तुम्हारा ही हूँ। फिर यह कहने में क्यों देर करते हो! स्वामिन्! तुम मुस्करा रहे हो! क्यों मुस्करा रहे हो ? क्या मेरे अज्ञान पर! हाँ, मैं हँसने ही योग्य हूँ। तुम ही इशारा कर रहे हो न कि तू तो मेरा है ही, सभी अवस्थाओं में मेरा रहा, मैंने कभी तुझे छोड़ा नहीं। तुम यही कह रहे हो न नाथ! कि पाप करते समय में भी मैं तेरे साथ रहा। तेरे पीछे खड़ा होकर तुझे देखता रहा, एक क्षण के लिये भी तुझे नहीं छोड़ा। मैं तुझे प्रेम करता हूँ और तूने ही मुझे छोड़ दिया है, मेरी ओर से आँखें बन्द करली हैं। तू संसार की सुन्दरता पर मुग्ध हो गया है और तूने मेरी ओर देखना ही छोड़ दिया है। सत्य है प्रभो! तुम्हारा कहना ठीक है, तुमने मुझे नहीं छोड़ा, तुमने मुझपर अमृत की वर्षा की। मेरे साथ तुम्हें ऐसे स्थानों में भी जाना पड़ा जहाँ तुम्हें नहीं जाना चाहिये था। परन्तु हे अनन्तस्वरूप! अब मेरी त्रुटि पर, मेरे अपराध पर दृष्टि मत डालो, यह शरीर, ये इन्द्रियाँ, ये प्राण, मन, बुद्धि, अहंकार, आत्मा जो कुछ भी मैं था, हूँ और होगा, वह सब तुम्हारा ही था, तुम्हारा ही है और तुम्हारा ही होगा। अब ऐसी कृपा करो कि मैं इस सत्य पर स्थिर हो जाऊँ और प्रतिक्षण तुम्हारे चरणकमलों को अपने हृदय से सटाये रहूँ।

मेरे जीवन सर्वस्व! मेरे प्राणों के प्राण! मेरे स्वामी! मेरे हृदय में प्रेम की ऐसी ज्वाला जगा दो, जिसमें मेरी सारी अहंता और ममता जलकर खाक हो जायँ, हृदय के मन्दिर में तुम्हें बैठने की जगह बन जाय। प्रियतम! अपना ऐसा विरह दो, कि सारा हृदय आँसू बनकर आँखों को धो डाले और आँखें सर्वत्र, सर्वदा तुम्हारी अनूप रूपराशि का मधु पीकर छक जायँ।

प्रभो! दे दो न अपने लिये व्याकुलता? मैं तुम्हारे लिये तड़फड़ाता हुआ घूमा करूँ—

हा नाथ रमण प्रेष्ठ क्वासि क्वासि महाभुज!
दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम्।।

(भागवत-10/30/40)

'हा नाथ! हा रमण! तुम तो हमारे बड़े प्यारे हो! कहाँ हो? तुम्हारे हाथ बड़े लम्बे हैं, जहाँ हो वहीं से हमको पकड़ लो। मैं तो तुम्हारी दासी हूँ, कृपणा हूँ। सखे, मुझे अपना सान्निध्य-दर्शन कराओ।'

हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन!
मग्नमुद्धर गोविन्द गोकुलं वृजिनार्णवात्।।

(भागवत-10/47/52)

'हे नाथ! हे रमानाथ! हे व्रजनाथ! हे सम्पूर्ण दुःखों का नाश करने वाले! यह हमारा गोकुल, यह इन्द्रियों का समूह, यह हमारा मन, हमारी बुद्धि—दुःख के समुद्र में डूब रहे हैं। दौड़ो! दौड़ो! हमें विपत्ति-जाल से बचाओ!'

हे देव हे दयित हे भुवनैकबन्धो!
हे कृष्ण हे चपल हे करुणैकसिन्धो!
हे नाथ हे रमण हे नयनाभिराम!
हा हा कदा नु भवितासि पदं दृशोर्मे:।।

(कृष्णकर्णामृत-40)

'हे देव! हे प्रियतम! हे त्रिभुवन के एकमात्र बन्धो! हे कृष्ण! हे चपल! हे करुणासिन्धो! हे नाथ! हे रमण! हे नयनाभिराम! अहो आप कब मेरे नेत्रगोचर होंगे? कब मैं आपके दर्शन करूँगा?'

युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम्।
शून्यायितं जगत् सर्वं गोविन्द विरहेण मे।।

(शिक्षाष्टक-7)

'श्रीकृष्णचन्द्र के वियोग में मेरे लिए एक-एक पल युग के समान बीत रहा है। नेत्र वर्षा के मेघ बन गये हैं और सम्पूर्ण संसार सूना-सा हो रहा है।'

श्रीकृष्ण! ये आँखें तुम्हारे अतिरिक्त और किसी को क्यों देखती हैं? चाहे तो तुम इनके सामने आओ और चाहे इन्हें जला दो। यह वाणी दूसरे का नाम क्यों लेती है? चाहे तो इससे तुम्हारा ही नाम निकले और चाहे यह नष्ट हो जाय। श्रीकृष्ण! मेरे कान तुम्हारा ही मधुर आलाप सुनें, तुम्हारी ही बाँसुरी की तान सुनें, या बहरे हो जायँ। मेरी चित्तवृत्ति और किसी को न देखे, न सुने, न स्पर्श करे। मेरी क्यों! यह तुम्हारी ही चित्तवृत्ति है, लगा लो अपने चरणों में प्रभो! मेरे दयालु प्रभु! मेरे प्रेमी प्रभु! लगा लो न, रहा नहीं जाता। विवश हो रहा है चित्त, एक बार तो कृपा कर दो। कृपा तो तुम्हें करनी ही है। बिना कृपा किये तो तुम रह ही नहीं सकते, फिर देर क्यों कर रहे हो? अभी कर दो न? यह देखो, एकटक आँख खोले, मुँह बाये तुम्हारी ओर देख रहा हूँ। मेरे प्यारे कृष्ण! प्यारे कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण!

'श्याम भजे जा, काम किये जा,
का काहू का डर रे।
हाथ न पाई, सिरपर सांई
का बाहर का घर रे!'

सत्सङ्ग का प्रसाद

(१)

एक महात्मा ने अपने भक्त से पूछा–'क्यों लाला, तुम्हारा किसी से दृढ़ राग है?'

भक्त—'ऐसा नहीं मालूम होता महाराज!'

महात्मा—'किसी से द्वेष है?'

भक्त—'ना!'

महात्मा—'तब बेटा! किसी भी साधना में तुम्हारी दृढ़ प्रवृत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि साधना में तो प्राणपण से वे ही लोग लगते हैं, जो किसी को पाने के लिये अत्यन्त उत्सुक हैं, अथवा जो किसी से इस प्रकार ऊब गये हैं कि उसको छोड़े बिना रह ही नहीं सकते। संक्षेप में, अपने इष्ट से अनुराग और अनिष्ट-परिहार की अभिलाषा ही साधना में लगाती है। जब इतने ऊँचे उठ जाओगे कि तुम्हारे लिए प्रिय-अप्रिय कुछ रहेगा ही नहीं, तब जो कुछ होगा, साधन ही होगा। तब तो सहज स्थिति ही साधना होगी। परन्तु जो उस स्थिति में नहीं हैं, कहीं बीच मार्ग में ही थोड़ा सा रस प्राप्त करके सन्तुष्ट हो गये हैं, अथवा प्रमादवश इष्ट-अनिष्ट का विचार ही नहीं करते, उन्हें एक-न-एक दिन पछताना पड़ेगा। साधक को तो ऐसा होना चाहिये, कि जहाँ वह है और जहाँ उसे पहुँच जाना चाहिये, दोनों की दूरी को एक क्षण भी सहन न करे। कितना वीर साधक है वह जो अवाञ्छनीय परिस्थिति का परित्याग

करने के लिये इतना व्याकुल हो जाता है कि 'मैं कहाँ पहुँच जाऊँगा' इसका विचार किये बिना ही पागल की भाँति उछल पड़ता है।'

(२)

शिष्य ने गुरु से प्रश्न किया—'भगवन्-भगवत्प्राप्ति के लिये किस प्रकार की आकुलता होनी चाहिये?' गुरु मौन रहे। शिष्य उनका रुख देख कर चुप ही रहा। स्नान के समय गुरु और शिष्य दोनों ने एक साथ ही नदी में प्रवेश किया। एकाएक गुरु ने शिष्य का सिर, जब वह डुबकी लगा रहा था, पानी में जोर से दबा दिया। भला वह बिना श्वास के पानी में कबतक रह सकता? उसके धीरज का बाँध टूट गया और वह छटपटाकर बाहर निकल आया। उसके स्वस्थ होने पर गुरु ने पूछा–'पानी से निकलने के लिए कितनी आतुरता थी तुम्हारे मन में?'

शिष्य ने कहा—'बस एक क्षण उसमें और रह जाता तो मर ही गया था।'

गुरु—'मेरे प्यारे भाई! अभी तो तुम संसार में जी रहे हो और सुख मान रहे हो। जिस क्षण इस वर्तमान परिस्थिति से तुम उसी प्रकार अकुला उठोगे, तब तुम सारे बन्धन को छिन्नभिन्न करके एक क्षण में ही अपने प्रियतम प्रभु को प्राप्त कर सकोगे।'

शिष्य—'तब क्या वर्तमान परिस्थिति से ऊबना ही साधन का प्रारम्भ है? इस प्रकार तो असन्तोष की आग भड़केगी, संतोषामृत का पान कैसे कर सकेंगे?'

गुरु—'भैया! विवशता का सन्तोष तो कायरता है, क्लीवता है। यदि तुम्हारे मनमें कोई इच्छा ही न हो, तब तो दूसरी बात है। परन्तु जब तुम कुछ प्राप्त करना चाहते हो और वह न्यायसङ्गत है, तब उसे प्राप्त

किये बिना बैठे रहना किसी प्रकार उचित नहीं है। यदि असन्तोष की आग भड़कती है और प्रलय होता दीखता है तो हो जाने दो क्योंकि यह प्रलय ही नवीन सृष्टि का जनक है। जिसके चित्त में अशान्ति का संचार नहीं हुआ, वह कैसे जान सकता है कि शान्ति क्या वस्तु है? सामने दीखने वाली सुन्दरता पर ही जो मुग्ध हो रहा है, उसके सामने सौन्दर्य का अन्तराल क्यों व्यक्त होने लगा? तुम सारे आवरणों को फाड़कर एक बार पूरे आवेग से उनसे मिल लो फिर तो तुम निरन्तर ही मिले रहोगे। परन्तु एक बार पूर्ण मिलन हुए बिना जो सन्तोष है, वह तो सन्तोष का शव है, ख्याल-मात्र है। उसके भीतर असन्तोष छिपा हुआ है। उसके बीज को प्रकट करके उखाड़ डालना और चिरकाल तक के लिये असीम सुख-शान्ति को प्रतिष्ठित कर लेना ही तो साधना है।'

(३)

सत्सङ्गी ने पूछा—'महात्मन्! यदि हमारे अन्दर भगवान् के लिए व्याकुलता नहीं हो, तो क्या वे हमें नहीं मिलेंगे?'

महात्मा—'क्यों नहीं मिलेंगे? अवश्य मिलेंगे। मिलना ही उनका जीवन है, मिलना ही उनका जीवन-व्रत है। बिना मिले वे रह ही नहीं सकते। ऐसा क्यों, वे तो प्रतिदिन सैकड़ों, हजारों रूपों में हमसे मिलते भी हैं। हम उन्हें पहचानते नहीं, इसी से उनके मिलन के आनन्द से वंचित रह जाते हैं। परन्तु हमारे न पहचानने से उनकी छिपने की लीला तो पूरी होती ही है, वे हमारे इस भोलेपन का आनन्द भी लेते हैं।

सत्सङ्गी—'तब क्या हमें ही पहचानना पड़ेगा? यदि उनके मिलने पर भी हम उन्हें नहीं पहचान सकते तो हमारे जीवन में इससे अधिक महत्वपूर्ण और कौनसी घटना घटेगी कि हम उनको पहचानकर उनके आलिङ्गन का सुख प्राप्त कर सकेंगे?'

महात्मा—'यह तो उनकी एक लीला है। जब तक वे आँख-मिचौनी खेल रहे हैं, उनकी इच्छा अपने को पहचान में लाने की नहीं है, तबतक किसका दीदा है कि उन्हें पहचान सके? परन्तु वे कबतक छिपेंगे? वे जैसे नचावें, नाचते जाओ; कभी तो रीझेंगे ही। यदि रीझकर उन्होंने अपना परदा—बनावटी वेश दूर कर दिया, तब तो कहना ही क्या है? और यदि छिपे ही रहे तो भी हम उनके सामने ही तो नाच रहे हैं! हम चाहे उन्हें न देखें, वे तो हमें देख रहे हैं न? बस, वे हमें और हमारी प्रत्येक चेष्टा को देख रहे हैं और उनकी प्रसन्नता के लिये मैं नाच रहा हूँ—इतना भाव रखकर, जैसे रखें, रहो। वे अवश्य तुम्हें अपनी पहचान बतायेंगे, मिलेंगे।'

(४)

शिष्य ने पूछा—'गुरुदेव! भरसक क्रिया तो शास्त्र और भगवान् के विरुद्ध नहीं करता, परन्तु मनको क्या करूँ, कैसे रोकूँ? नाना प्रकार के संकल्प उठा करते हैं, जिनमें अधिकांश बुरे होते हैं। क्या करूँ?'

गुरुदेव ने कहा—'तुम संकल्प करने वाले क्यों बन बैठे हो? तुमने जो यह मान रखा है कि मैं संकल्प करता हूँ, अपने लिये संकल्प करता हूँ— यही तो भ्रम है। भगवान् के लिये ही संकल्प हो, भगवान् ही संकल्प करें। उनके भले-बुरे होने का भी निर्णय वे ही करें। जैसे आकाश, वायु, सूर्य, समुद्र और पृथ्वी उन्होंने धारण कर रखा है और वे ही उनका संचालन भी करते हैं, वैसे ही सबके शरीर और अन्तःकरणों को भी उन्होंने ही धारण कर रखा है और उनकी सत्ता, महत्ता तथा प्रत्येक गतिविधि उन्हीं के हाथ में है। जब कोई भ्रमवश, अहंकार वश आश्रय करके उन्हें अपना समझने लगता है, तब अच्छे भी बुरे बन जाते हैं। प्रत्येक क्रिया और संकल्प के मूल में वे ही हैं, हम नहीं। जो क्रिया

हो, जो संकल्प उठे, उसके मूल की ओर देखो और बड़ी आतुरता से उधर ही दौड़ पड़ो, जिधर से वह आता है। अवश्य ही यह जागरूकता भी उन्हीं की ओर से प्राप्त होती है, परन्तु इसके लिये सावधानी रखनी ही चाहिये। जबतक हम हैं, तबतक हमारा कर्त्तव्य भी है। कहीं हमारे प्रमाद के पाप से वह आयी हुई अनमोल देन हमारे हाथ से निकल न जाय। शरीर और अंतःकरण सब उसी एक के हैं, उसी की ओर देखो। फिर सब ठीक है।'

(५)

एक मुमुक्षु ने अपने गुरुदेव से पूछा—'प्रभो, कौनसी साधना करूँ?'

गुरुदेव ने कहा—'तुम बड़े जोर से दौड़ो। दौड़ने के पहले यह निश्चित कर लो कि मैं भगवान् के लिये दौड़ रहा हूँ। यही तुम्हारे लिये साधना है।'

उसने पूछा—'क्या बैठकर करने की कोई साधना नहीं है?'

गुरु ने कहा—'है क्यों नहीं, बैठो और निश्चय रखो कि तुम भगवान् के लिये बैठे हो।'

शिष्य—'भगवन्, कुछ जप नहीं करें?'

गुरु—'किसी भी नाम की आवृत्ति करो और सोचो, मैं भगवान् के लिये कर रहा हूँ।'

शिष्य—'तब क्या क्रिया का कोई महत्व नहीं है? मेरा भाव ही साधन है?'

गुरु—'मेरे प्यारे भाई! क्रिया का भी महत्व है। परन्तु क्रिया पहले वही वस्तु दे सकती है, जिसमें तुम्हारा भाव होगा। नाम-जप का उद्देश्य धन है तो पहले धन, पीछे भगवान्! क्रिया से भाव और भाव से क्रिया, यही क्रम है। दृष्टि लक्ष्य पर रहे; फिर जो तुम करोगे, वही साधना होगी। प्रत्येक व्यक्ति का यही भाव हो कि वह जहाँ है, वहीं उसे भगवान् मिल सकते हैं। ऐसा कौन है, जिसे भगवान् नहीं मिले हुए हैं। लक्ष्य तो ठीक करो, साधना स्वयं ठीक हो जायगी।'

(६)

एक बार एक सत्सङ्गी ने एक महात्मा से प्रश्न किया—'भगवन्! आप बार-बार नाम-जप करने को कहते हैं, परन्तु मेरे मनमें भगवत्प्राप्ति की इच्छा नहीं है और स्वाभाविक रुचि भी नहीं है नाम में। फिर मैं क्यों नाम जप करूँ?'

महात्माजी ने कहा—'यदि भगवत्प्राप्ति की इच्छा हो, तब तो नाम-जप के सम्बन्ध में प्रश्न ही क्यों हो? परन्तु इच्छा होने का भी कोई उपाय होना चाहिये। शुद्ध अंतःकरण से नाम जपना चाहिये। परन्तु अंतःकरण शुद्ध हो कैसे? इसलिये तुम जिस अवस्था में हो, जैसे हो, अभी से नाम-जप शुरू कर दो। माना कि तुममें कोई इच्छा नहीं है, परन्तु तुम तो मेरी प्रसन्नता के लिये भी जप कर सकते हो। कोई नाम-जप करता है तो मैं प्रसन्नता से खिल उठता हूँ। क्या गुरु की प्रसन्नता के लिये शिष्य इतना भी नहीं कर सकता? मेरा विश्वास है, अपने लिये न सही, मेरे लिये ही तुम नाम-जप करोगे।'

(७)

पैंतीस-छत्तीस वर्ष पूर्व की बात है—एक सज्जन के चित्त में वैराग्य का उदय हुआ। उनकी अवस्था अभी छोटी थी। वे घर-द्वार छोड़कर निकल पड़े और भागकर अयोध्या पहुँचे। उन्होंने वहाँ जाकर एक प्रसिद्ध विद्वान् महात्मा से प्रार्थना की कि अब मुझे वैराग्य-दीक्षा देकर कृतार्थ कीजिये।

महात्मा ने पूछा—'तुम्हारा घर कच्चा है या पक्का? घर पर कितने प्राणी हैं? वहाँ क्या भोजन मिलता है?' उन्होंने उत्तर दिया-'महाराज, मेरा घर कच्चा है, तीन-चार प्राणी हैं, साधारण भोजन मिलता है।'

महात्माजी ने कहा—मेरा मठ पक्का है, यहाँ सैकड़ों साधु रहते हैं, उत्तम भोजन मिलता है। यदि कच्चा घर छोड़कर पक्के में रहना, तीन-चार प्राणी छोड़कर सैंकड़ों प्राणियों में रहना और साधारण भोजन छोड़कर उत्तम-उत्तम भोजन करना वैराग्य हो तो तुम आओ, मैं तुमको वैराग्य दीक्षा दे दूँ। परन्तु यदि तुम्हें अपने विचार से ऐसा दीखता हो कि वहाँ की अपेक्षा यहाँ कुछ अधिक वैराग्य नहीं है तो तुम्हें घर पर रहकर ही भजन करना चाहिये। भजन होना चाहिये-चाहे हम घर में हों या वन में, गृहस्थ हों या विरक्त। वैराग्य अन्तर की वस्तु है, बाहर की नहीं। उसका अर्थ इतना ही है कि प्रियतम प्रभु के अतिरिक्त और किसी को भी मनमें स्थान न मिले, उनके अतिरिक्त और किसी से राग न हो। तुम केवल उन्हीं से राग करो, उन्हीं का भजन करो, उन्हीं में रम जाओ। बाह्य परिस्थितियों को तुम जितना ही अनुकूल बनाना चाहोगे उतना ही उनमें फँस जाओगे। चाहे जैसी भी परिस्थिति हो, तुम जहाँ भी हो, वहीं भगवान् का भजन करो।' महात्माजी का उपदेश मानकर वे घर लौट गये। वे बहुत समय तक गृहस्थ रहे और उनका भजन बड़े-बड़े विरक्तों से भी उत्तम रहा।

(८)

भगवान् की कृपा के सम्बन्ध में सत्सङ्ग चल रहा था। भक्त लोगों का कहना था कि कृपा से ही सब कुछ हो जाता है, पुरुषार्थ अथवा साधन की कोई आवश्यकता नहीं है। बाबा अपने आसन पर बैठे मन्द-मन्द मुस्करा रहे थे। भक्तों का रुख देख कर वे एक बार बोले-'सत्य ही है। भगवत्कृपा तो तत्त्व है। कोई माने या न माने, जाने या न जाने, वह तो सब पर एक रस है ही। साधक, असाधक सभी उस कृपा के महान् समुद्र में ही बरफ की चट्टान की तरह डूब उतरा रहे हैं। सबकी संघटना ही कृपा मात्र से हुई है।' फिर चुप होकर मुस्कराने लगे।

एक भक्त ने पूछा—'महाराज जी, तब क्या पुरुषार्थ का कोई उपयोग नहीं है?' बाबा ने कहा-'है क्यों नहीं? पुरुषार्थ भी तो कृपा ही है। साधन की प्रेरणा भी तो कृपा की ही अभिव्यक्ति है। तुम साधना को कृपा से भिन्न क्यों मानते हो?' भक्त—'फिर साधन न करना भी तो कृपा ही हुई।' बाबा—'ठीक है। साधन करना और न करना दोनों ही कृपा है, इस प्रकार का विश्वास, निश्चय और अनुभव जिसे प्राप्त है वह तो महासाधन-सम्पन्न है।' भक्त-'परन्तु ऐसा विश्वास जिसे प्राप्त नहीं है, जो साधन में संलग्न भी नहीं है, उसे क्या समझा जाय?' बाबा-'सत्य तो यह है कि उसकी यह स्थिति भी कृपा से शून्य नहीं है। हमारी क्षुद्र बुद्धि चाहे उसे कृपा न समझे, सब कृपा-ही-कृपा है।' बाबा की बात सुनकर सब भगवान् की अनन्त कृपा का अनुभव करने लगे।

कुछ समय बाद बाबा स्वयं बोले-'जहाँ अपनी पृथुक्ता का अनुभव है, जहाँ दु:ख को छोड़कर सुख पाने की इच्छा है, वहाँ जीव को अपने

धर्म का पालन करना ही पड़ेगा। जैसे भगवान् का धर्म है कृपा, वैसे ही जीव का साधन धर्म है। वह साधन क्या है? भगवत्कृपा पर विश्वास। विश्वास करना ही पड़ेगा। बिना विश्वास के कृपा होने पर भी वह बेकार-सी है। विश्वास करो इतना ही तुम्हारा पुरुषार्थ है। भगवान् की कृपा तुम्हें इसके लिये प्रेरणा दे रही है।' इस प्रकार बाबा कह ही रहे थे कि एक आगन्तुक ने आकर बाबा के सामने साष्टांग दण्डवत् किया। वह आदमी बड़ा घबड़ाया हुआ था। मालूम होता था, वह बहुत ही भूखा-प्यासा है। उसका चेहरा मुरझाया हुआ था। बाबा से सांत्वना पाकर वह कहने लगा—

'मैं एक अत्यन्त पापी जीव हूँ। मैंने जान बूझकर बहुतों को दु:ख दिया है, चोरी की है, हिंसा की है, व्यभिचार किया है, झूठ बोलकर लोगों को धोखा दिया है। ऐसा कौन सा पाप है, जो मैंने न किया हो? अब मेरा हृदय जल रहा है। ग्लानि से मैं मरा जा रहा हूँ। जीवन असह्य हो गया है। मेरी रक्षा करो, बाबा! मेरी रक्षा करो।' बाबा ने कहा-'तुम इतना घबराते क्यों हो? अब तो पाप हो गये हैं न? तुम्हारे घबड़ाने से तो अब उनका होना न-होना नहीं हो सकता? तनिक शान्त चित्त से विचार करो। अब तो पाप हो गये। उनके लिये पश्चात्ताप कर ही रहे हो। प्रायश्चित्त करो, दण्ड भोगो, नरक में जाओ। जिस वीरता से पाप किये, उसी वीरता से उनका फल भी भोगो। घबड़ाने की क्या बात है?' उस नवागन्तुक मनुष्य ने कहा-'महाराज, मेरे चित्त में न शान्ति है, न स्थिरता। सिवा मृत्यु के अब मेरे लिये कोई उपाय नहीं है। मेरी वीरता न जाने कहाँ चली गई? अब तो मैं धधकती हुई आग में जल रहा हूँ।' बाबा-'तुम घबराओ मत। भगवान् की कृपा पर विश्वास करो। उनका नाम लो। उनके प्रति आत्मसमर्पण कर दो। उनके होते ही तुम्हारे पाप-ताप शान्त हो जायँगे। विश्वास करो भगवान् की अहैतुकी

कृपा पर। वह अब भी तुम पर है और वैसी ही है, जैसी हम पर और किसी पर भी।' नवागन्तुक–'प्रभो, मैं जल रहा हूँ। न मुझमें प्रायश्चित्त करने की शक्ति है और न तो विश्वास करने की। मेरी जीभ से नामोच्चारण भी नहीं होता। मैं आत्महीन हूँ, आत्मसमर्पण कैसे करूँ? जबतक मेरे पाप हैं तबतक मैं कुछ भी करने में असमर्थ हूँ।'

एक क्षण मौन रहकर बाबा ने कहा–'अच्छा तुम एक काम करो। हाथ में गङ्गाजल, कुश और अक्षत लेकर अपने सारे पाप मुझे समर्पित कर दो! मैं सहर्ष उन्हें स्वीकार करता हूँ। मैं तुम्हारे सब पापों का फल भोग लूँगा। तुम निष्पाप होकर भगवान् की शरण में जाओ, उनकी कृपा पर विश्वास करो।' आश्चर्यचकित होकर कुछ आश्वस्त-सा वह बोला–'बाबा, क्या ऐसा भी सम्भव है? मुझ पापी पर भी कोई ऐसे कृपालु हो सकते हैं जो मेरे पापों का फल भोगने के लिये उन्हें स्वीकार कर लें।' बाबा–'इसमें क्या सन्देह है? तुम्हें भगवान् की दयालुता पर सन्देह है क्या? वे हम सबकी माँ हैं। माँ जब अपने बच्चे को गंदी नाली में गिरा हुआ देखती है, तब उसके, स्नान करके आनेकी प्रतीक्षा नहीं करती है। वह तो दौड़कर बिना विचारे ही पहले उसे गोद में उठा लेती है, फिर धोती से उसे पोंछती है। गौ का बच्चा जब नाल में जकड़ा हुआ पैदा होता है, तब माँ उसकी नाल को, उसके गन्दे बन्धन को अपनी जीभ से चाट जाती है, उसके दोषों को अपना भोग्य बना लेती है। इसी को वत्सला गौ का वात्सल्य कहते हैं। भगवान् का वात्सल्य तो इससे भी अनन्त गुना है। वे पापी को और पापों को भी स्वीकार कर सकते हैं, करते हैं। तुम उनके अपने नन्हें-से शिशु हो, उनकी गोद में हो। तुम विश्वास करो, उन्होंने तुम्हें पहले स्वीकार कर लिया है। वे तुम्हारा सिर सूँघ रहे हैं। वे तुम्हें पुचकार रहे हैं। अनुभव करो और आनन्द में मुग्ध हो जाओ।'

उस समय सभी भक्तों और उस आगन्तुक की आँखों से आँसू बह रहे थे। सबके शरीर पुलकित थे, सबके हृदय गद्‌गद्‌ हो रहे थे। बाबा ने कहा–'अब भी तुम्हें शङ्का हो कि मुझ पापी को भगवान्‌ स्वीकार नहीं करेंगे तो लाओ संकल्प कर दो– मैं तुम्हारे पाप स्वीकार करता हूँ।' नवागन्तुक ने कहा–'मेरा विश्वास हो गया, बाबा! भगवान्‌ मेरी उपेक्षा नहीं करेंगे। उन्होंने मुझे स्वीकार कर लिया, मेरा दृढ़ विश्वास है। अब मैं कभी उनके चरणों से दूर नहीं होऊँगा।'

बाबा ने भक्तों से कहा–'यही पुरुषार्थ का उपयोग है जो कि भगवान्‌ की बड़ी कृपा से होता है। यदि ये मुझे अपने पाप का दान देते तो भी इन्हें विश्वास करना पड़ता कि बाबा ने मेरे पापों को स्वीकार कर लिया। यदि इनके अन्त:करण में ऐसी श्रद्धा है, विश्वास है, शक्ति है, तो फिर विलम्ब क्या है? भगवान्‌ ने तो स्वीकार कर ही रखा है। केवल विश्वास का विलम्ब है। यह विश्वास ही जीव का पुरुषार्थ है। यह पुरुषार्थ कृपा की अनुभूति का साधन है, तो कृपा पुरुषार्थ की अभिव्यक्ति का हेतु है। दोनों एक ही है।'

करो कृष्ण का भजन, सजन से यही मिलाता।
प्रीति-रीति, रति-अमृत जगत्‌ में यह छलकाता।
उगै भाव की लता, जगै मधुकी मादकता।
कण-कण में रस-लास्य, फुरै मोहन मोदकता।
रसराते माते रहो, हरि को गहो निशंक।
राह एकही है सुघर, भजन बिना सब रंक।।